

कम लागत की निजी स्कूली शिक्षा

गुणवत्ता, व्यवहारिकता और वांछनीयता

पद्मा एम. सारंगपाणि

लगभग सभी विकासशील देशों में सभी बच्चों को शिक्षा मुहैया कराने के प्रयासों में 'कम लागत में शिक्षा' को एक युक्ति की तरह प्रस्तुत किया गया है। भारत में भी शिक्षा की गुणवत्ता और कम लागत की शिक्षा को एकरूप करके प्रस्तुत करने की मुहिम जारी है। शिक्षा के अधिकार विधेयक के आने के बाद यह बहस चल रही है कि शिक्षा के लिए आवंटित बजट में सभी बच्चों को शिक्षा कैसे मुहैया करवाई जाए। इसका एक तरीका शिक्षा पर और शिक्षक के वेतन में लागत कम करना सुझाया गया है।

यह लेख गुणवत्तापूर्ण शिक्षा और कम लागत की शिक्षा को एकरूप मानने की भ्रान्ति को सामने रखते हुए, इसके आदर्श बतौर निजी स्कूलों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करने को प्रश्नित करता है। दरअसल यह लेख पंकज जैन एवं रविन्द्र एच. ढोलकिया के लेख के प्रत्युत्तर में लिखा गया है।

इस शोध पत्रिका में प्रकाशित लेख 'शिक्षा का अधिकार : क्रियान्वय की व्यवहार्यता' (20 जून 2009) में पंकज जैन व रविन्द्र एच. ढोलकिया ने जोरदार ढंग से दलील पेश की है कि शिक्षा का बुनियादी अधिकार, जिसे 'गुणवत्तापूर्ण' शिक्षा के बुनियादी अधिकार के तौर पर समझा जाना चाहिए, को आर्थिक रूप से व्यवहारिक तरीके से तभी हासिल किया जा सकता है जब राज्य व्यवस्थित तरीके से प्रारंभिक शिक्षा वाले हिस्से में निजी खिलाड़ियों/सेवा प्रदाताओं के साथ भागीदारी करे और सार्वजनिक माध्यमिक शिक्षा के आसन्न परिदृश्य का सामना करने की कोशिशों पर अपना ध्यान केन्द्रित करे। उनका दावा है कि वे इस 'नंगी' सचाई तक स्कूलीकरण की लागत की गणना के आधार पर पहुंचे हैं, जिनकी बुनियाद यथार्थवादी अनुमानों पर टिकी है जिसमें सभी तरह की प्रबन्धन लागतों की छूट ले ली गई है। यह गणना सुझाती है कि सकल घरेलू उत्पाद के 6 प्रतिशत के वित्तीय आवंटन की हद के भीतर इस काम का प्रबन्धन करने के लिए 'कुछ तो जरूर छोड़ना पड़ेगा'। चुना गया बलि का बकरा शिक्षक और उसकी तनखाह है। फिर वे कुछ हालिया अध्ययनों की बुनियाद पर दावा करते हैं कि सस्ते निजी स्कूलों ने काफी कम तनखाह वाले शिक्षकों की मदद से गुणवत्तापूर्ण शिक्षा मुहैया करवाने के मामले में अपनी काबिलियत दर्शाई है। दलील काफी उकसाने वाली है क्योंकि यह मिल्टन फ्राइडमैन

की 'सैद्धांतिक' दलील नहीं है, जिसमें बहस का मुद्दा यह है कि राज्य को शिक्षायी प्रावधानों पर एकाधिकार छोड़ देना चाहिए क्योंकि वे बाजार द्वारा बेहतर तरीके से पूरे किए जा सकते हैं। यह तो इस बात को दर्शाने की कोशिश करती है कि कोई दलील है ही नहीं; यह तो 'सबूतों पर टिकी, नंगी सचाई है', और इसलिए यही बेहतर है कि इसे कबूल कर लिया जाए इसलिए इस उकसावे और उसके लिए दिए गए सबूतों की बारीकी से छानबीन की जरूरत है।

लागत की गणना जिस तरह से की गई है वह विस्तृत और काबिले तारीफ है। जैन व ढोलकिया ने बहुत विस्तार से कुछ उन गैर-स्कूली लागतों को समायोजित व शामिल किया है जो कि, शिक्षायी बजट का हिस्सा होती हैं और जो शिक्षा प्रशासन के ऊपरी ढांचे को बनाए रखने के काम आती हैं, इस वजह से कामचलाऊ आंकड़े ज्यादा करीब से स्कूल के स्वरूप की झलक देते हैं। यह मानते हुए कि सकल घरेलू उत्पाद का 6 प्रतिशत हिस्सा शिक्षा के लिए आवंटित किया गया है, हर बच्चे के लिए हर साल में स्कूली शिक्षा के लिए उपलब्ध वित्तीय कोष के बारे में उनके द्वारा की गई गणनाएं सारणी 1 (पृ. 33) में दी गई हैं। उन्होंने पाया कि 2006 में यह 5784 रुपए (100 प्रतिशत को दायरे में लेते हुए) और 5342 रुपए (80 प्रतिशत को दायरे में लेते हुए, यह मानते हुए कि बाकी 20 प्रतिशत स्कूली शिक्षा निजी तौर पर हासिल करेंगे) है। उन्होंने इस तरह की गणनाएं भी

परिचय : शिक्षा में पीचडी, संप्रति : टाटा सामाजिक विज्ञान संस्थान, मुम्बई में बतौर प्रोफेसर कार्यरत।

संपर्क : टाटा सामाजिक विज्ञान संस्थान, वी. एन. पूर्व मार्ग, देवनार, मुम्बई-400088

पेश की हैं जो यह दर्शाती है कि यह वित्तीय कोष शिक्षकों को छठवें वेतन आयोग के मुताबिक वेतन दे पाने के लिहाज से काफी नहीं है। (देखें, सारणी 2 अ और 2 ब, पृ. 35)

शिक्षकों की तनखाह पर निशाना साधना

इस हकीकत का भान किसी को भी इस नतीजे तक पहुंचने तक मजबूर कर सकता है कि इसलिए सकल घरेलू उत्पाद का बड़ा हिस्सा शिक्षा के लिए आवंटित किया जाना चाहिए, और खासतौर पर प्रारंभिक शिक्षा के लिए, क्योंकि यह तो बुनियादी अधिकार है। (कम से कम जब तक सक्रियतावादी उच्चतम न्यायालय की संभावना है जिसने कि इस अधिकार को जीवन के अधिकार के साथ जोड़ कर समझा है और इसे दोनों ओर फैलाकर ऊपर से इसमें माध्यमिक शिक्षा और नीचे से इसमें पूर्व प्राथमिक शिक्षा को शामिल किया है।) फिर भी, जैन व ढोलकिया अंतर्राष्ट्रीय रुझानों का अनुसरण करते हुए, सबसे पहले शिक्षकों के 'संभावित' वेतन की गणना करके (सरकारी स्कूलों द्वारा 80 प्रतिशत बच्चों को अपने दायरे में समेटते हुए व छात्र-शिक्षक अनुपात 40 : 1 रखते हुए आरंभिक स्कूलों का शुरुआती वेतन छठवें वेतन आयोग के आंकड़े 13,042 रु. की तुलना में 5,739 रु. मानकर और माध्यमिक स्कूलों के शिक्षकों का शुरुआती वेतन आयोग के मानकों के मुताबिक 15,996 रु. से उलट 6,887 रुपए माना) उनकी शिक्षक की तनखाह को निशाना बनाते हैं। फिर वे दलील देते हैं कि,

जैसा कि होता है, बहुत सारे अध्ययनों से यह निकलकर आया है कि निजी/गैर-सरकारी स्कूल ठीक-ठाक गुणवत्ता वाली शिक्षा की आपूर्ति सरकारी शिक्षा की लागत का 25 से 35 प्रतिशत लगाकर कर सकते हैं (पंकज जैन 1997; टूली व अन्य 2007; वछानी व स्मिथ 2008)। ऐसा होता है क्योंकि निजी क्षेत्र में स्कूली शिक्षकों की तनखाह सरकारी शिक्षकों की तनखाह की करीब-करीब 25 से 35 प्रतिशत तक ही होती है, जैसा कि कुछ अध्ययनों में पाया गया है। (देखें, वाजपेयी व अन्य 2008 अ और 2008 ब) (पृ. 41)

जैन अहमदाबाद में एक गैर-सरकारी संस्था चलाते हैं जिसमें इस बात की बहुत संभावना है कि वे इस तरह की तनखाह पर मुनासिब गुणवत्ता का सीखना बच्चों को मुहैया करवा पाते हों; लेकिन यह जरूर दर्ज किया जाना चाहिए कि बच्चों की मजदूरी के समय को समायोजित करते हुए रोजाना उनके साथ तीन घंटे के काम के जरिए साक्षरता व गणनात्मक काबिलियत हासिल करने के वास्ते असरकारक शिक्षण को मदद करने के लिए संस्थागत प्रावधानों को स्कूल के तौर पर नहीं माना जा सकता। ऐसे 'अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र' जो कि सरकारी अनुमति से और यहां तक कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति-86 के जरिए राज्य से वित्तीय मदद पा कर चलते हैं, स्कूल

मुहैया करवाने में राज्य द्वारा अपनी जिम्मेदारी को पूरा करने में नाकाम रहने के तौर पर उनकी अच्छी तरह से पहचान की जा चुकी है। इसका मतलब, जो लोग इस काम में शामिल हैं उनके अच्छे इरादों और संजीदगी पर और न ही इस बात पर, कि बच्चे ऐसी जगहों को नियमित तौर पर चलने वाले आम स्कूलों के मुकाबले ज्यादा पसंद करते हैं, शंका करना नहीं है। घिसी-पिटी लगने के जोखिम के बावजूद यह बात कहनी जरूरी है कि स्कूलों को बच्चों का सर्वांगीण विकास समग्रता के साथ करने की जरूरत है; और इसके लिए काफी जगह और सुविधाओं की दरकार होती है, बच्चों द्वारा स्कूल में समय बिताने की जरूरत होती है, एक दुरस्त व समर्थ पाठ्यक्रम और काबिल शिक्षकों की जरूरत होती है जो इस बात को पक्का कर पाएं कि बच्चे सार्थक ढंग से सीखें और उन्हें विकास के अनुभव व मौके मिलें। यह एक जुदा मसला है कि सनकी प्रशासनिक अमला इस काम को सरकारी स्कूलों में कर पाना मुश्किल से मुश्किलतर बनाता जा रहा है और हमारे पास मंत्रालयों के बीच आपसी तालमेल से चलने वाली कोशिशें काफी नहीं हैं जो कि इस तरह के 'संपूर्ण अनुभव' वाली स्कूली शिक्षा को गरीब अभिभावकों के बच्चों के लिए हासिल करने के लिए लगने वाली लागत को कम से कम कर पाए।

स्वामित्व की श्रेणियां

मिलिकियत को सिर्फ दो खानों या श्रेणियों 'सरकारी व निजी' में बांटकर जैन व ढोलकिया एक दूसरा अंतर्राष्ट्रीय ढर्रा पकड़ते हैं और 1990 के दशक के मध्य तक 'स्वैच्छिक' व 'धर्मार्थ' के बीच अहम फर्कों को धुंधला कर देते हैं। यहां तक कि 1990 के दशक में मशहूर हुई शब्दावली 'गैर-सरकारी संस्थान' को भी 'निजी-गैर सरकारी' में शामिल कर लेते हैं। ऐसे संस्थानों ने बहुत कम लागत पर स्कूल चलाकर और गुणवत्तापूर्ण शिक्षा मुहैया करवा कर सार्थक 'सार्वजनिक' भूमिका अदा की है और कर रहे हैं, और अक्सर गरीबों की विकास संबंधी जरूरतों को पूरा करने में राज्य की पहलकदमियों, कमियों को पाटने की कोशिश की है। इन संस्थानों में शिक्षक अक्सर काफी काबिल होते हैं हालांकि उन्हें तनखाह नहीं के बराबर मिलती है। यह बात काफी मायने रखती है कि जैन व ढोलकिया ज्ञान शाला के अलावा किसी और संस्थान को गैर-सरकारी और इसलिए निजी संस्थान की तरह सबूत के तौर पर पेश नहीं कर पाए। वे मुख्यतः जेम्स टूली व अन्य (2007) द्वारा सरकारी स्कूलों की 25 से 35 प्रतिशत लागत पर गुणवत्तापूर्ण शिक्षा पर किए गए हालिया अध्ययनों के नतीजों पर निर्भर करते हैं (शायद, क्योंकि वाक्य को इस तरह पढ़ा जाएगा कि '0-5 प्रतिशत की लागत पर अच्छी गुणवत्ता की शिक्षा !')।

हाल ही में हमें टूली व अन्य द्वारा किए गए अध्ययन (ऊपर उद्धृत) को विस्तार से जांचने-परखने का मौका हैदराबाद में मिला, जिसने

हमें जैन व ढोलकिया के लिए अहम सुराग मुहैया करवाए। हमने पाया कि न सिर्फ 'अच्छी' प्रकृति की शिक्षा के बारे में उनकी समझ संदेहास्पद है बल्कि उनके नतीजों व व्याख्याओं में भी गहरा खोट है और वे बड़ी मुश्किल से ही गुणवत्ता के वे सबूत गढ़ पाती हैं जिनका कि वे दावा करती हैं। सरकारी स्कूलों के बरक्स बगैर मान्यता प्राप्त निजी स्कूलों द्वारा अच्छी गुणवत्ता की शिक्षा देने का उनका मामला बगैर साबित हुए रह जाता है। और तो और दरारें, चुप्पियां और चुनिंदा प्रस्तुतिकरण व दलीलें इस तरह की शोधों के पीछे छुपी वजहों पर भी सवाल खड़े करती हैं (विस्तृत दलीलों के लिए देखें, पद्मा सारंगपाणि व विंच, प्रकाश्य)। सबसे पहले मैं टूली व अन्य द्वारा निजी सस्ते स्कूलों की गुणवत्ता के बारे में किए गए दावों की मुख्य समस्याओं का सारांश सामने रखूंगी।

स्कूल की गुणवत्ता

टूली व अन्य के पास जानकारी के दो अहम स्रोत हैं जिसकी बुनियाद पर वे 'स्कूल की गुणवत्ता' को परखते हैं। पहला अभिभावकों द्वारा सरकारी या निजी स्कूलों में किए जाने वाले चुनाव पर टिका है। यहां पर वे निजी स्कूलों द्वारा मुहैया करवाई जाने वाले अंग्रेजी माध्यम के प्रति आकर्षण की अहमियत को कम करके आंकते हैं और इसके बजाय निजी स्कूलों (अंग्रेजी माध्यम वाले) के प्रति अभिभावकों की तरजीह को उनकी (ऊंची) गुणवत्ता के आकलन के सबूत के तौर पर पेश करते हैं। दूसरा, गुणवत्ता के प्रतिनिधिक व मापकों की एक लम्बी सूची है। उस सूची में, गुणवत्ता के संकेतकों के तौर पर बुनियादी स्वास्थ्य व स्वच्छता, सुरक्षा व आराम और शिक्षकों के क्रियाकलापों की मौजूदगी अहम बिन्दु हैं। लेकिन बहुत से ढांचागत पहलुओं के बारे में, जिसमें पंखों, टेपरिकॉर्डर व टी.वी. की मौजूदगी भी शामिल है, विस्तार से आंकड़े इकट्ठे किए गए हैं, उनका सारणीयन व विश्लेषण किया गया है। इस तुलना की बुनियाद पर उन्होंने नतीजा निकाला है कि बगैर मान्यता या अनुदान प्राप्त निजी स्कूल, कम से कम सरकारी स्कूलों जितने ही अच्छे हैं या उनसे बेहतर हैं। "यह (उनका) चुनाव बेतुका या विवेकहीन नजर आता है, खासतौर पर तब जब उसे दूसरे संभावित सूचकांकों या संकेतकों के साथ मिलाकर देखा जाए जिन्हें कि छोड़ दिया गया है... वे इन शिक्षक प्रशिक्षण की काबिलियतों या समय सारणी में आई गतिविधियों के एवज में इन मामूली या महत्वहीन से संकेतकों को चुनते हैं ! वे सरकारी स्कूलों में दोपहर के खाने को शामिल करने को भी पूरी तरह से नजरअंदाज करने की राह अख्तियार करते हैं, एक ऐसी सहूलियत जो कि निजी गैर-सहायता प्राप्त और निजी गैर-मान्यता प्राप्त स्कूलों में मुहैया नहीं करवाई जाती" (सारंगपाणि व विंच, प्रकाश्य)।

जैन व ढोलकिया दावा करते हैं कि वही अध्ययन "... दर्शाता है कि इन स्कूलों के बच्चे सरकारी स्कूलों के बच्चों के बरक्स हैदराबाद के

इन स्कूलों के बच्चों द्वारा हासिल किए गए औसत परीक्षण प्राप्तांक करीबन एक सिग्मा ज्यादा हैं"। हकीकत में, ऐसा कोई दावा दर्ज नहीं किया गया। बहुत मुमकिन है कि टूली व अन्योंने सरकारी स्कूलों और उसके समकक्ष निजी स्कूलों के बच्चों का मूल्यांकन हकीकत में किया हो, और आखिरकार, उसके नतीजों को बहस के लिए पेश करने के विचार को छोड़ दिया हो, क्योंकि वास्तव में, सस्ते निजी स्कूलों के बच्चों से तो रट्टा मारने व रोजमर्रा के नीरस कामों कि सिवा किसी और काम को पूरा कर पाने की कोई उम्मीद ही नहीं रखी जाती। हाल ही में सरकारी व निजी शैक्षिक संस्थानों की तुलना करने वाली, इंटरनेट समूह की एक बहस में एक नामी-गिरामी निजी परीक्षण संस्थान के संस्थापक, जो कि सरकारी व निजी स्कूलों के बच्चों के प्रदर्शन पर बड़े पैमाने पर व व्यापक रूप से शोध कर रहे हैं, ने पाया कि,

'...मुझे ऐसा कोई सुराग नहीं मिला जिससे कि सरकारी स्कूलों की तुलना में निजी स्कूलों के शैक्षिक प्रदर्शन या नतीजों को पूरी तरह से समझाया जा सकता...'

1. छात्रों के सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि, 2. छात्रों के आरंभिक स्तरों, 3. जांचे गए सीखने की रटने या प्रक्रियापरक प्रकृति। दूसरे शब्दों में कहें तो, अगर आप पहले कारक को काबू में कर लें, और मान लो कि कक्षा 3 से 7 के बीच में (शुरुआती फायदे को रद्द करने के लिए) बेहतरी की तलाश करें और जांच सिर्फ रटने या प्रक्रियापरक ज्ञान की नहीं करें, तो मेरा यकीन है निजी स्कूल सरकारी स्कूलों से कतई बेहतर प्रदर्शन नहीं करेंगे। अगर निजी स्कूल (शुरुआत से ?) में कक्षाएं अंग्रेजी माध्यम में लगती हों तो मेरा भरोसा है कि हकीकत में वे सीखने के मामले में कमतर प्रदर्शन करेंगे।

सस्ते निजी स्कूल

इसी क्षेत्र में किए गए एक अध्ययन की बुनियाद पर लिखी गई अपनी एक पहले वाली रपट में टूली व डिकसन ने इन सस्ते स्कूलों के शिक्षाक्रम को 'जेहन को कुंद करने वाला' बताया है। अभिभावक तो इस बात के भी बेहद तमन्नाई हैं कि दूसरे विषयों के कालांशों को भी अंग्रेजी के अतिरिक्त कालांशों में तब्दील कर दिया जाए। शिक्षक भी पूरी तरह से रटकर याद करवाने के तौर-तरीकों के आदी हैं (टूली व डिकसन 2003)। ये सस्ते निजी स्कूल अगर कुछ करते हैं तो वह यह कि ये बच्चों पर उनके समझ में न आने वाले अंग्रेजी के 'सवाल-जवाबों' रटकर सीखने का बहुत जबरदस्त दबाव बनाते हैं; जिसका कोई इंसान बमुश्किल ही 'गुणवत्तापूर्ण शिक्षा' के साथ किसी तरह का ताल्लुक बिठा पाएगा। इसकी तुलना में ज्ञान शाला जैसे केन्द्रों को इनसे मुक्त रखने वाली खासियत यह है कि ये केन्द्र मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा में हैं। हैरत की बात है कि जैन ने अपने

निजी संस्थान द्वारा मुहैया करवाई जाने वाली शिक्षा को इन सस्ते निजी स्कूलों द्वारा दी जाने वाली शिक्षा की पांत में बिठाकर दिखलाने की कोशिश की।

टूली व अन्यो द्वारा किए गए अध्ययन से निकलने वाले नतीजों व व्याख्याओं की कुछ दूसरी समस्याएं भी हैं, जिन संदर्भों में एक राज्य-खास तौर पर आंध्र प्रदेश (सच्चर समिति की रपट में दर्ज)-के आमने-सामने होने की वजह से इस समुदाय को जिन मुश्किलों का सामना करना पड़ रहा है, उसमें जवाब देने वालों, जो कि ज्यादातर मुसलमान हैं, के अनुभवों को, और उर्दू माध्यम के स्कूलों की जगजाहिर समस्याओं को शामिल कर पाने में नाकामी भी शामिल हैं। उनका आमतौर पर सरकार विरोधी रवैया भी उनके प्रति पूर्वाग्रह का काम करता है। बेशक सरकार द्वारा मुहैया करवाई जाने वाली शिक्षा के साथ कई मुद्दे जुड़े हैं, लेकिन जो समाधान का सुझाव दिया जाता है वह हकीकत से परे है कि निजी पैसे से चलने वाले स्कूलों में पढ़ने के लिए वाउचर देने से समाधान हो जाएगा।

जैन व ढोलकिया और टूली के दावे के उलट, अब तक इस बात पर भरोसे लायक कोई सबूत नहीं है कि सस्ते निजी स्कूलों द्वारा मुहैया करवाई गई शिक्षा तुलनीय है, व्यवहार्यता या वांछनीयता तो बहुत दूर की बात है। निजी स्कूलों द्वारा मुहैया करवाई जाने वाली शिक्षा भी हमारे सरोकार का मुद्दा होनी चाहिए, जब हम यह महसूस करते हैं कि टूली के मॉडल में बाजार में जो चीज मिल रही है वह 'शैक्षिक मौका' है न कि शिक्षा। इसका मतलब यह है कि निजी सेवा प्रदाताओं की जिम्मेदारी सिर्फ शिक्षा मुहैया करवाने की है और बच्चे शिक्षित हो जाएं इसे पक्का करने का जिम्मा या काम उनका नहीं है। यह सिर्फ शाब्दिक बाल की खाल निकालने का मामला नहीं है, जब कोई इस बात को याद करे कि अच्छी शिक्षा का 'सार्वजनिक' चरित्र सिर्फ अच्छी निजी शिक्षा को इकट्ठी करने से ही नहीं बनता है, और कोई इससे भी आगे इन संस्थानों में गरीबों के बच्चों तथा गरीबों में से भी गरीबतम बच्चों के संभावित अनुभवों के बारे में सोचे। (पूरी दलील के लिए देखें सारंगपाणि व विंच, प्रकाश्य)।

उनकी व्यवहार्यता या संभाव्यता के बारे में सरोकार भी गंभीर किस्म के हैं। टूली ने हैदराबाद में तनखाहों को जो हाल पाया, जिसका दायरा निजी स्कूलों में 1200 से 3000 के बीच तक पसरा था, उसमें शिक्षक काफी हताश रहते हैं, वहां पर शिक्षकों की आवा-जाही की दर काफी ऊंची होती है और उनमें काम को लेकर कुंठा बनी रहती है, जिससे इन संस्थानों में अस्थिरता काफी बनी रहती है। यदि वे फिर भी काम करना जारी रखते हैं तो वह तमाम गलत वजहों से हो सकता है, जिसमें स्कूल के बाद ट्यूशन की भरमार हो सकती है, जो कि वैकल्पिक आय का साधन हो सकता है। इससे बमुश्किल ही कोई अच्छा प्राथमिक स्कूल बनेगा। ज्ञानशाला की बात करें तो

एक अध्ययन ने दर्ज किया है कि कम तनखाह वाले शिक्षकों के लिए किस हद तक पर्यवेक्षण या निरीक्षण की जरूरत होती है; उनकी गतिविधियां योजना के जरिए काबू में की जाती है जिसमें यह तय होता है कि वे हर पंद्रह मिनट में क्या करेंगे। (वखानी व स्मिथ, 2008)। जाहिर है कि शिक्षकों को बेहद बारीकी से नियंत्रित करने के लिए भारी-भरकम संस्थागत कोशिशें की जाती हैं। यह न केवल कम काबिलियत या कौशलों वाले शिक्षकों का गठन करते नजर आता है बल्कि वही अध्ययन यह भी इशारा करता है कि ज्ञानशाला को लायक पर्यवेक्षकों को नियुक्त करने में मुश्किल पेश आती रही है। इतनी कम तनखाह वाले शिक्षकों के साथ इन 'स्कूलों/केन्द्रों' का नजारा अच्छा तो नजर नहीं आता भले ही जैन और ढोलकिया इनके शिक्षकों की तनखाह को कितना भी संभव या व्यवहार्य पाएं। शायद, यही वक्त है कि जो वांछित है उसके लिए शिक्षकों की तनखाह तय की जाए, इस बात का ख्याल रखते हुए कि किस तरह की विशेषज्ञता और बौद्धिक क्षमता वाला महत्त्वपूर्ण काम इसमें शामिल है और इस पर दोबारा काम करने की जरूरत है कि शिक्षा को सकल घरेलू उत्पाद का कितना प्रतिशत आवंटित किया जाना चाहिए ! ◆

(‘इकॉनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली’ से साभार)

संदर्भ

जैन, पंकज एस व रवीन्द्र एच ढोलकिया (2009) : “शिक्षा के अधिकार विधेयक को अमल में लाने की संभाव्यता या व्यवहार्यता”, इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, भाग 44, अंक 25, 20 जून, पृ. 38-43।

सारंगपाणि, पी व विंच सी (प्रकाश्य) : “हैदराबाद में निजी शिक्षा पर टूली, डिक्सन व गोमथी : एक जवाब” ऑक्सफोर्ड रिव्यू ऑफ एज्युकेशन में प्रकाशन के लिए मंजूरीशुदा।

टूली, जे व पी डिक्सन (2003) : ‘गरीबों के लिए निजी स्कूल : भारत से एक मामले का अध्ययन’ (यू.के. : सी एफ बी टी रिसर्च एंड डेव्हलपमेन्ट)।

टूली, जे व पी डिक्सन व एस वी गोमथी (2007) : ‘निजी स्कूलों और सार्वजनिक प्राथमिक शिक्षा के सहस्राब्दि विकास के लक्ष्य : जनगणना के आंकड़े व हैदराबाद, भारत में तुलनात्मक अध्ययन’, ऑक्सफोर्ड रिव्यू ऑफ एज्युकेशन, भाग 33, संख्या 5, पृ. सं. 539-60।

वखानी, एस व सी एन स्मिथ (2008) : ‘पिरामिड के पेंदे तक पहुंचने के लिए सामाजिक तौर पर जिम्मेदारी पूर्ण तरीके से वितरण की कार्यनीति’, कैलीफोर्निया मैनेजमेन्ट रिव्यू, भाग 50, संख्या 2

भाषान्तर : रविकान्त